दशवैकालिक सूत्र

डॉ. यशोधरा वाधवाणी शाह

आचार्य शय्यंभवसूरि द्वारा अपने नवदीक्षित अल्पायुष्क लघुशिष्य के लिए दशवैकालिक सूत्र का निर्यूहण किया गया था। दशवैकालिक के दश अध्ययनों में श्रमणाचार की आवश्यक जानने योग्य बातों का सुन्दर संयोजन है। दशवैकालिक के महत्त्व का आकलन इसी से किया जा सकता है कि अब साध्वाचार में दीक्षित करते समय आचारांग के स्थान पर दशवैकालिक सूत्र के पाठ का उपयोग किया जाता है तथा नवदीक्षित श्रमण-श्रमणी को प्रतिक्रमण आदि के पश्चात् सर्वप्रथम दशवैकालिक पढ़ाया/स्मरण कराया जाता है। डेक्कन कॉलेज, पुणे की विदुषी डॉ. यशोधरा जी ने इस सूत्र पर समीक्षात्मक लेख प्रस्तुत किया है।–**सम्पादक**

दसवेयालिय– (या क्वचित् दसकालिय) सुत्त इस प्राकृत नाम से प्रसिद्ध इस जैन आगम का कर्ता सिजंभव या सेज्जंभव सूरि को बताया जाता है और इसे अनंगश्रुत का भाग माना जाता है।

दिगंबर परंपरा के अनुसार, भगवान महावीर की कैवल्यप्राप्ति के बाद तीन अनुबद्धकेवली और पाँच श्रुतकेवली हुए हैं, जिनमें से अंतिम श्रुतकेवली थे आचार्य भद्रबाहु, जिन तक १२ अंगों वाला अंगश्रुत आगम अपने मूल रूप में जारी रहा था। तत्पश्चात् उत्तरोत्तर धारणाशक्ति क्षीण होती जाने से तथा पुस्तकारूढ करने की परिपाटी अभी रूढ न होने से अंगश्रुत क्रमशः विलुप्त होता गया। परंतु परंपरा को अविछिन्न बनाए रखने हेतु बाद के मुनियों ने/गणधरों ने ग्रंथरचना जारी रखी, जो अनंगश्रुत कहलाई। इसके 'सामायिक' आदि चौदह भेदों में से दो नाम ही पहले संस्कृत सूत्रग्रंथ तत्त्वार्थसूत्र पर रची गई अपनी सर्वार्थसिद्धि नामक वृत्ति में आचार्य पूज्यपाद ने निर्दिष्ट किए हैं और वे हैं उत्तराध्ययन तथा दशवैकालिक।

संभवतः यह केवल संयोग की बात न होगी कि दिगंबर परंपरा के चौदह अनंगश्रुत ग्रंथों में से उपर्युक्त दो ही हैं जो श्वेताम्बरों के 'अंगबाह्य' श्रुत में भी महत्त्व का स्थान रखते हैं। ई. सन् ५०३ के आसपास रचे गए नन्दीसूत्र में प्राप्त वर्गीकरण के अनुसार अंगबाह्य श्वेताम्बर श्रुतग्रंथों में एक प्रकार था 'आवश्यक' और दूसरा 'तद्व्यतिरिक्त'। उस दूसरे के उपप्रकार थे कालिक (यानी कालविशेष में पढ़ने योग्य) एवं उत्कालिक(दिन या रात के किसी भी प्रहर में स्वाध्याय योग्य) तथा इनमें सर्वप्रथम उल्लेख था दशवैकालिक का। किन्तु आगे चलकर आगमों का वर्गीकरण कुछ बदल गया और प्रस्तुत ग्रंथ (दशवैकालिक सूत्र) को चार मूलसूत्रों के बीच तीसरा स्थान मिला।

'मूलसूत्र' यह नाम सर्वप्रथम आवश्यक चूर्णि ने प्रयुक्त किया था, उस ग्रंथ के लिए, जिसकी वह एक टीका थी। बाद में भगवान महावीर के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मूल उपदेशों को संक्षेप में ग्रथित करने वाले ग्रंथ को मूलसूत्र कहा जाने लगा। यह बात दशवैकालिक सूत्र पर भी लागू होती है। परन्तु सतारा (महाराष्ट्र) से ई.सं. १९४० में प्रकाशित इसके प्रथम संस्करण के प्राक्कथन (पृ.६) में आचार्य श्री हस्तीमल जी म.सा. फरमाते हैं कि 'ज्ञान, दर्शन, चारित्र एवं तप, इन चार (आत्मा के) मूल गुणों का पोषण करने वाला आगम ग्रंथ'– इस नाते दशवैकालिक सूत्र एक 'मूल' संज्ञक ग्रंथ है। जबकि वाल्टेर शुब्रिंग नामक प्रसिद्ध जर्मन विद्वान का मत है कि अपने मुनि जीवन के आरंभकाल (मूल) में नवभिक्खु हेतु उपयोगी ग्रंथ होने के नाते यह मूलसूत्र है।

अस्तु। अब इस ग्रंथ तथा इसके कर्ता के नामादि का विचार करें। इसकी सबसे प्राचीन पद्यमय प्राकृत टीका आचार्य भद्रबाहु कृत निर्युक्ति तथा हरिभद्र सूरिकृत सर्वप्रथम संस्कृत टीका (अनुक्रम से विक्रम की ५वीं व ८वीं शती) एवं परिशिष्ट पर्वन् (सर्ग ५) के अनुसार सेज्जंभव सूरि पहले शय्यंभव भट्ट[1] नाम के वत्सगोत्रीय ब्राह्मण गृहस्थ थे, वेदों के प्रकांड पंडित एवं चुस्त यज्ञयात्री। किन्तु वही अपना उत्तराधिकारी बनने योग्य है, ऐसा आचार्य सुधर्मा और जम्बूस्वामी के बाद महावीर के तीसरे पट्टधर बने आचार्य प्रभवस्वामी ने उपयोग लगाकर जाना। तब उन्होंने अपने दो शिष्यों को शय्यंभव द्वारा राजगृह में आयोजित यज्ञ में भेजा और आदेश दिया कि वहां तुम्हारा वैदिक पंडितों जैसा सम्मान न हो तो भी, उद्विग्न हुए बिना "अहो कष्टम्‌। तत्त्वं तु न ज्ञानम्" इतना उस दीक्षित यजमान के कान में कहकर चले आना। जब वैसा हुआ तब शय्यंभव सोच में डूब गया और अपने अध्यापक के पास जाकर सच्चे तत्त्व के बारे में अत्यंत आग्रहपूर्वक पूछा। उन्होंने पहले वेद को और फिर आर्हत धर्म को तत्त्व बताया। तब सारी यज्ञ सामग्री उन्हें सौंपकर शय्यंभव चल पड़ा प्रभव स्वामी जी की खोज में और अनुनय करके उनके पास प्रव्रज्या ग्रहण की। लगातार स्वाध्याय करके वे चतुर्दशपूर्वी बन गए और गुरु के पश्चात् चौथे पट्टधर बने।

परन्तु जिस वक्त उन्होंने घर छोड़ा था उस समय उनकी पत्नी का पैर भारी हो चला था। लोगों के पूछने पर उन्होंने कहा था– "अंदर थोड़ा कुछ (मणगं) है"। इसी कारण उनके पुत्र का नाम मनक रखा गया। ७–८ वर्ष का होने पर वह अपने पिता के बारे में पूछने लगा। उन्होंने श्वेतपट की दीक्षा ले ली थी– यह जानकर वह पिता की खोज में निकल पड़ा। जब चम्पानगरी में भेंट हुई तो पिता ने पुत्र को तो पहचान लिया, पर स्वयं को उसके पिता का घनिष्ठ मित्र बताकर अपने शिष्य के रूप में रख लिया। शीघ्र ही ज्ञानातिशय से उन्होंने जाना कि मनक की आयु केवल छः मास शेष है। इस स्वल्पकाल में विशाल सागर समान द्वादश अंगों तथा १४ पूर्वों का अध्ययन कर

1. किन्तु शुब्रिंग महोदय के मत से 'सेज्जंभव' संस्कृत स्वयंभव (स्वयंभू) का प्राकृत रूप है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सिद्धान्त का तलस्पर्शी ज्ञानादि पाना उसके लिए असंभव होगा। यह सोचकर उसके अनुग्रह हेतु सूरि ने द्वादशांग गणिपिटक से धर्म का सार निर्यूढ़ (निज्जूढ) किया—ऐसा निज्जुत्ति गाथा (७) में विधान है।

अपराह्न में आरंभ किए इस ग्रंथ के १० अध्ययन निबद्ध करते-करते संध्या समय (विकाल) हो गया, इस कारण उसे दशवैकालिक नाम मिला—ऐसा एक मत है। दूसरे मत से १० विकालों(संध्याओं) में इसका अध्ययन संभव होने से यह सार्थक नाम उसे मिला। तीसरा मत कहता है कि दसवां अध्ययन विताल नामक जातिवृत्ति में होने से उसको दशवैतालिक नाम मिला था, जो कि प्राकृत में दसवेयालिय ही होना संभव था।

इसके नामादि संबद्ध एक समस्या और भी है। वह है इसका 'सूत्रग्रंथ' कहलाना। सामान्य संस्कृत परिपाटी में तो—

'अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद् विश्वतोमुखम्।
अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः।।"

और ऐसे ग्रन्थ प्रायः गद्य में निबद्ध होते हैं— क्रियापद विरहित लघुतम वाक्यों के रूप में। परन्तु इस ग्रंथ का ८०—८५ प्रतिशत पद्यात्मक है; केवल अध्ययन ४ के प्रारंभ में २३ गद्य खण्ड मिलते हैं जो अधिकतर उत्तराध्ययन सूत्र के कुछ अंशों का अनुसरण करते हैं। (वैसे ही अध्ययन ९ में ७ और पहली चूलिका में १८ गद्यखण्ड मिलते हैं, पर गद्योक्त विषयवस्तु को ही बाद में संक्षेप से पद्य में भी दोहराया गया है-- वैदिक उपनिषदों की तरह।

इन तथ्यों को देखते हुए इस ग्रंथ का सूत्र कहलाना विचित्र सा लगता है। किन्तु विद्वानों का कथन है कि संभवतः विशाल अंग-साहित्य तथा पूर्वों में विस्तार से विद्यमान महावीर स्वामी के उपदेशों के यहाँ सुग्रथित संक्षिप्त रूप में उपस्थित होने से इसकी 'सूत्र' संज्ञा सार्थक है और फिर अनुयोगद्वार ५१ के अनुसार तो जैन परम्परा में सूत्र (सुत्त), श्रुत (सुय), ग्रन्थ(गंथ), सिद्धान्त (सिद्धंत), शासन (सासण), आज्ञा (आण), वचन (वयण), उपदेश (उवएस), प्रज्ञापना (पन्नवण) तथा आगम— ये सारे शब्द पर्यायवाची माने गए हैं। अतः दशवैकालिक नामक यह ग्रंथ सूत्र शैली में निबद्ध न होते हुए भी 'सूत्र' कहलाया। कारण, वह एक चतुर्दशपूर्वधर आगमपुरुष की कृति है, अतः एक आगम है, सूत्र है।

जैन आगमों में दशवैकालिक सूत्र की गिनती किस रूप या हैसियत में होती है, यह हम पहले देख चुके हैं। कुछ लोग आगमों का विभाजन अर्थागम, सूत्रागम तथा तदुभयागम इस रूप में भी करते हैं और दशवैकालिक सूत्र को बीचवाले स्थान में गिनाते हैं या फिर आचार्य आर्यरक्षित द्वारा कृत चतुर्विध अनुयोग विभाजन की दृष्टि से इसे चरणकरणानुयोग में स्थान देते हैं, क्योंकि "चरणं मूलगुणाः... करणं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उत्तरगुणा:.....(प्रवचनसारोद्धार, गाथा ५९.२) और यद्यपि शय्यंभव सूरि ने इसे अपने पुत्र के लिए ग्रथित किया था, तथापि महाराज श्रेणिक के पुत्र मेघकुमार को दीक्षा देकर बोलने–चलने–भिक्षा मांगने आदि के विषय में जैसा उपदेश भगवान महावीर ने दिया था (ज्ञाताधर्मकथा १.३०), उसी प्रकार का आचार-विनय का उद्बोधन यहां प्रशस्त शैली में देखकर महासंघ ने इसे नवदीक्षितों के लिए विशेष उपयोगी माना। अत: आचारांग के प्रथम श्रुतस्कंध के बाद तुरंत उत्तराध्ययन सूत्र के अध्ययन की प्राचीन परंपरा को बदलकर, बीच में दशवैकालिक सूत्र के अनुशीलन का विधान किया गया। दिगंबर परम्परा ने भी इसे 'साधु के आचार-गोचर की विधि का वर्णन' करने वाले ग्रंथ के रूप में मान्य किया, और यापनीय संप्रदाय के अपराजित सूरि (वि. की ८ वीं शती) ने भी इस पर विजयोदया नामक टीका लिखकर अपनी मान्यता जताई थी। वैसे, इस पर एक अज्ञातकर्ता द्वारा भाष्य लिखे जाने के निर्देश भी हरिभद्र की संस्कृत टीका में अनेक बार मिलते हैं, परन्तु स्थविर अगस्त्यसिंह या जिनदास महत्तर की (वि. की छठी व सातवीं शती की) चूर्णियों में, न जाने क्यों, उसका उल्लेख नहीं हुआ।

इनके अतिरिक्त वि. की १३ वीं से १७वीं शती के दरम्यान दशवैकालिक सूत्र पर संस्कृत में तिलकाचार्य ने भी एक 'टीका' लिखी, तो माणिक्यशेखर ने **निर्युक्ति दीपिका**, समयसुदर गणि ने **दीपिका**, विनयहंस ने **वृत्ति** और रामचन्द्रसूरि ने **वार्तिक** लिखा। वि. की १८वीं शती में एक नया प्रयोग हुआ। पायचन्द्रसूरि तथा धर्मसिंह मुनि ने मिलकर, मिश्रित राजस्थानी-गुजराती भाषा में 'टब्बा' नाम से टीका दशवैकालिक सूत्र पर रची, तो २०वीं शती(ई. सन् १९४०)में हस्तीमल जी महाराज ने संस्कृत में **सौभाग्यचंद्रिका**। लेकिन इन सबमें कोई विशेष नया स्पष्टीकरण या चिंतन दृष्टिगोचर नहीं होता। ये सब प्राय: तत्कालीन उपयोगिता की दृष्टि से रची गई प्रतीत होती हैं। कभी उसकी गद्य या पद्य शैली पर टिप्पणी करती हुई, तो कभी भाषा–छंदों–अलंकारों पर। जैसे–

दशवैकालिक सूत्र के उपर्युक्त गद्यांशों में कहीं-कहीं प्रश्नोत्तर शैली का भी प्रयोग मिलता है, बिना संपादकों के नाम निर्देश के। ग्रंथ के पद्यांशों में से ८० प्रतिशत अनुष्टुभ् छंद में निबद्ध हैं। (हालांकि हर चरण में ८ अक्षरों के नियम का पालन यहां चुस्ती से नहीं किया गया, कहीं ७ भी मिलते हैं तो कही ९ भी) परन्तु अध्ययन ६, ७ एवं ८ के अंत में उपजाति वृत्त का प्रयोग अंतिम छन्द बदलने की संस्कृत महाकाव्यों की परिपाटी के अनुसार है।

बाकी के २० प्रतिशत पद्यभाग में इन्द्र/उपेन्द्र/ इंद्रोपेंद्र–वज्रा, जगती, त्रिष्टुभ् तथा जाति या गाथा वृत्त प्रयुक्त हुए हैं, जबकि अंतिम दशम अध्ययन वैतालीय वृत्त में है। भाषा अर्द्धमागधी है और अभिव्यक्ति संक्षिप्त

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तथा भारयुक्त, फिर भी मधुर।

विषय के विशदीकरण हेतु उपयुक्त उपमा, दृष्टांत आदि अलंकारों का प्रयोग यत्र—तत्र किया गया है। उदाहरणत: भिक्षा के लिए गृहस्थों के पास जाता हुआ मुनि उन्हें कष्ट न दे, जैसे मधुकर पुष्प को या फलाहारी पक्षी उसकी टहनी को; गुरु की सेवा तथा सविनय आज्ञापालन करने वाले शिष्य का ज्ञान जलसिक्त पादप की तरह बढ़ता जाता है; दुर्विनीत स्त्री-पुरुष जग में वैसे ही दु:खग्रस्त रहते हैं जैसे दंड, शस्त्र आदि के प्रहार से जीर्ण जंगली हाथी—घोड़े।

अब बारी है इस ग्रंथ में निरूपित वर्ण्य विषय पर विचार करने की। १० अध्ययनों तथा २ चूलिकाओं (परिशिष्टों) में से प्रत्येक का संक्षेप देने लगें तो भी बहुत विस्तार हो जाएगा, अत: पहले सबके शीर्षकों को विहंगम दृष्टि से देखें। वैसा करते हुए आचार की पुनरावृत्ति ध्यान खींच लेती है, क्षुद्रकाचार कथा (अ.३), महाचार कथा (अ.६), आचारप्रणिधि(अ.८)। इस आचार में अहिंसा का महत्त्व सर्वाधिक है और उसकी बात 'छह जीवनिकायों' के शीर्षकवाले अ. ४ में भी आती है। {तुलना कीजिए अ.८, श्लोक २—३; पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, बीजयुक्त तृण तथा वृक्ष— ये सभी त्रस (थोड़ा बहुत हिल सकने वाले) जीव हैं। इनका अपने हाथों से क्षय न हो, इस विषय में सदा सजग रहते हुए, भिक्षु को अपने शरीर, वाणी तथा मन में संयत बनना चाहिए।}

वैसे ही विविक्त (या, परिशिष्टपर्वन् की परिपाटी के अनुसार 'विचित्रचर्या') शीर्षक वाली दूसरी व अंतिम चूलिका में भी अकेले विरक्त जीवन बिताने वाले साधु की जीवनचर्या गृहस्थ से कैसे भिन्न होनी चाहिए, यह बताते हुए एक तरह से मुनि के आचार का ही निरूपण हुआ है।

इन तथ्यों की ओर अंगुलिनिर्देश करते हुए, शुब्रिंग महोदय ने लिखा है कि वास्तव में केवल अ.५,७ और ९ में ही अपना-अपना स्वतंत्र वर्ण्य विषय लेकर उसका समग्रता से वर्णन किया गया है। तो क्या, बाकी अध्ययनों में सचमुच ही अंधाधुंध उत्सूत्रता है? आइए देखें—

चूंकि मुनि सेज्जंभव ने इस ग्रंथ का निर्यूहण ही नवदीक्षितों हेतु किया था, अत: मुनिधर्म का महत्त्व एवं उसका स्वरूप सामान्य रूप से समझाना अ.१ में आवश्यक ही था और यही करते हुए उन्होंने रूपक—अलंकार का आश्रय लिया है **"धम्मो मंगलमुक्किट्ठं अहिंसा संजमो तवो"** इस प्रकार आरंभ करते हुए समझाया कि भविष्यत्कालीन/अनागत पापकर्म से बचने (संवर) हेतु संयम तथा भूतकालीन/अर्जित कर्मों के क्षय (निर्जरा) हेतु तप—इन दोनों सहित तीसरा तत्त्व अहिंसा—ये तीनों मिलकर ही (मुनि का) उत्कृष्ट कल्याणकारी धर्म कहलाते हैं, आगे इन्हीं तीनों को धर्म रूपी द्रुम के तीन पुष्प भी कहा है और इसी बात को आश्रय बनाकर पांच श्लोकों वाले इस

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अध्ययन को नाम दिया है दुम्मपुप्फिया।

परन्तु धर्म का महत्त्व एवं स्वरूप जान लेने भर से उस मार्ग में सुस्थिर हो पाना इतना आसान नहीं है। देह और तन्मूलक आसक्तियाँ (विशेषकर स्त्री शरीर के प्रति) पद-पद पर यतमान मुनि को विचलित करने में व्यस्त रहती हैं। अतः इन्द्रिय विषयों से दूर, उनके अभाव वाले प्रदेश में रहना पर्याप्त नहीं है; अपितु उनकी उपस्थिति के बावजूद उन्हें नकारने की, क्षणिक मनोदुर्बलताओं पर विजय पाने की दृढ़ता श्रमण मुनि में आनी चाहिए और उसके लिए आवश्यक है मोक्ष की तीव्र इच्छा तथा (जैन) श्रमण-परम्परा में अटूट श्रद्धा। यही विषय है 'श्रामण्यपूर्वकम्' (के प्राकृत) नाम वाले दूसरे अध्ययन का, जिसमें उत्तराध्ययन के कुछेक अंशों के साथ भाषा एवं शैली की समानता ध्यान खींचती है।

जो गृहस्थों/श्रावकों के लिए तो सर्वसामान्य हों, पर मुनियों के लिए वर्ज्य/क्षुद्र माने जाएं, ऐसे कुआचरणों एवं पदार्थों की गिनती तीसरे अध्ययन में मिलती है।

मुनि के आचार-गोचर का सार है महाव्रतों का पालन और उनका आधार है जीवदया। इस हेतु जगत् में विद्यमान जीवदेहों के छह प्रकार जानने चाहिए, इन्हीं को निरूपित किया गया है षड्जीवनिका नामक चौथे अध्ययन में। साथ ही इन जीवनिकायों की सुरक्षा के लिए यानी अहिंसा के लिए मुनि को अपने चलने-फिरने या उठने–बैठने में जो संयम बरतना चाहिए, यह सब भी यहां वर्णित है, अतः इसे धर्मप्रज्ञप्ति भी कहते हैं। हालांकि अधिकतर जीवनिकायों को उनकी इधर–उधर की गति या वृद्धि के आधार पर जाना जा सकता है, फिर भी कुछ जीवों के शरीर इतने सूक्ष्म होते हैं कि निरी आंखों से दिखते तक नहीं। ऐसे जीवों को भी स्वयं के हाथों त्रास या हानि न हो, इस उद्देश्य से जैन परंपरा में रात्रिभोजन-विरमण नाम का छठा संयम भी महाव्रतों में जोड़ा गया है।

लेकिन भोजन के संदर्भ में केवल 'कब खाना या न खाना' यह विचार पर्याप्त नहीं हैं, 'क्या और कैसे खाना या न खाना' यह भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है। वैसे तो, संसार की हर वस्तु में किसी न किसी स्थूल या सूक्ष्म जीव की उपस्थिति संभव है, लेकिन धर्माचरण के साधनभूत शरीर को टिकाने हेतु खान -पान तो अनिवार्य है, अतः यह शरीरधर्म निभाते हुए, न्यूनातिन्यून हिंसा या पर पीड़ा हो, यही देखना मुनि के हाथ में है और इस वास्ते, भिक्षाचर्या के लिए उपयुक्त समय, स्थल, मांगने की विधि आदि के बारे में अनेक उत्सर्ग–-अपवाद आदि बताए गए हैं **पिण्डैषणा** शीर्षक वाले पांचवें अध्ययन में।

गति और भोजन के संदर्भ में महत्तम अहिंसा के विचार के पश्चात्

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्य व्यवहारों में भी अहिंसा का जो विचार जैन धर्म में अत्यंत सूक्ष्म किया हुआ है, उसका निरूपण अपेक्षित था। उसी अपेक्षा की पूर्ति सेज्जंभव ने आगे की है। जैसे दैनंदिन वर्तमान आवश्यकताओं से अधिक मात्रा में वस्तुओं का संग्रह करने से अन्य जरूरतमंद लोगों को उनके उपभोग से वंचित रहना पड़े, तो यह भी एक तरह की अहिंसा ही है। उससे दूर रहते हुए, मुनि को अपरिग्रह व्रत का पालन कड़े ढंग से करना चाहिए। शरीरनिर्वाह हेतु कम से कम वस्तुएं ही पास रखना, एक ऊनी वस्त्र, भिक्षापात्र (लकड़ी का), एक रजोहरण,—बस। और ये वस्तुएँ भी न खरीदनी चाहिए, न बिना मांगे उठा लेनी चाहिए। बल्कि इन्हें भी भिक्षा रूप में ही प्राप्त करना चाहिए। साथ-साथ अन्य व्रतों की भी चर्चा करते हुए इस अध्ययन को **महाचार कथा** शीर्षक दिया गया है।

इन्हीं महाव्रतों में सदा सत्यभाषण का व्रत भी एक है। किन्तु इस वाचिक अहिंसा के संदर्भ में अधिक गहराई एवं विस्तार से समझाने के प्रयोजन से सातवें अध्ययन को 'वाक्यशुद्धि (वक्कसुद्धि) नाम दिया गया है। यहां व्याकरण—दृष्ट्या शुद्धि की बात नहीं है, प्रत्युत आरंभ में ही इशारा दिया गया है कि जो वचन सत्य होते हुए भी कटु हों, किसी के मर्म को चोट पहुंचाने वाले हों, उन्हें हिंसक अतएव अवक्तव्य मानना चाहिए। उसी तरह मृषा(असत्य) से मिश्रित सत्यवचन या सयाने लोगों द्वारा अप्रमाणित (शंकायुक्त) वचन भी नहीं बोलने चाहिए (क्योंकि इनसे सुनने वालों को दिग्भ्रान्ति हो सकती है)।

वचन की ऐसी शुद्धि के लिए मन की शुद्धि तथा कषायमुक्त संयत एकाग्र स्थिति भी जरूरी है, ताकि वह हर मौके पर मुनि का सही-सही मार्गदर्शन कर सके। इसी हेतु आचार की प्रणिधि (उस पर पूर्ण एकचित्तता) को लेकर आठवां अध्ययन रचा गया है, परंतु इसमें १—७ ही नहीं, आगे वाले अध्ययन ९ से भी विचारों को लेकर, कुछ सर्वसामान्य विधानों के साथ-साथ समाविष्ट किया गया है।

अध्ययन ८ में जो आचार में प्रणिहित होने का उपदेश दिया गया है, उसको ''साध्य करने या संभव बनाने के लिए पहले स्वयं को अनुशासन में रखने की आदत साधु को डालनी चाहिए।'' इसी महत्त्वपूर्ण विषय पर चार उद्देशकों (उपविभागों) वाला 'विनय समाधि' नाम से नवां अध्ययन रचा गया है। पहले व दूसरे में समझाया गया है कि मुनि के आचार धर्म का मूल है विनय, वह पुष्ट होगा तभी तना—डालियां —पत्ते परिपुष्ट होकर अंत में मोक्ष रूपी रस चखने को मिलेगा, क्योंकि अनुशासन से ही महाव्रतों का पालन ठीक से होगा, कषायों से मुक्ति मिलेगी तथा गुप्तियों द्वारा तन-मन की रक्षा होगी।

अनुशासन शारीरिक भी होता है और मानसिक भी। शारीरिक विनय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यानी गुरु अथवा अपने से बड़े मुनि की उपस्थिति में अदब से कैसे खड़े रहना, हाथ—पांव आदि की हलचल संयत रखना, दृष्टि नीची, बैठना—सोना पड़ ही जाए तो अपना आसन या बिस्तर उनसे नीचे समतल पर रखना, जोर से हंसना या बोलना नहीं, ना ही जल्दी जल्दी बात करना। इस तरह गुरुओं का आदर करने से वे प्रसन्न होकर योग्य मार्गदर्शन करते रहेंगे। उन्हें अनादर से असंतुष्ट किया तो साधना पथ से ही भटक जाओगे।

विनय का एक रूप गुर्वाज्ञा का पूर्णत: पालन भी है, वैसा करने वाला उनका प्रीतिभाजन तो बनता ही है, शीघ्र ज्ञान व कीर्ति संपादन कर स्वयं सम्माननीय / अर्हत् भी बन सकता है। यह विषय है अध्ययन ९.३ का।

९.४ में विनय समाधि के ४ प्रकार बताते हुए, पहले प्रकार को भी वही नाम दिया है। अन्य तीन प्रकार हैं— श्रुत समाधि, तप समाधि एवं आचार समाधि। तत्पश्चात् इनके भी ४—४ यानी समग्रतया १६ प्रभेद बताए गए हैं।

अस्तु। 'स भिक्खू' अर्थात् वही सच्चा भिक्षु है ऐसी ध्रुव पंक्तियुक्त २० गाथाओं सहित २१ वीं जोड़कर बनता है दसवां अध्ययन। हालांकि इसकी गाथा ७,८,१० में उत्तराध्ययन १५.१२ एवं ११ की झलक साफ दिखती है, फिर भी प्रस्तुत ग्रंथ के अ. १—९ का सार यहां मौजूद है। सद्‌भिक्षु के इस स्वरूप का सतत स्मरण—चिंतन नवदीक्षित का आलंबन बनकर उसे संयम मार्ग में स्थिर करता है।

किन्तु फिर भी अगर कोई डिग जाए, तो सम्हाल कर पुन: संयम में स्थिर करने के उद्देश्य से रतिवाक्या शीर्षक वाली प्रथम चूलिका में पथभ्रष्ट साधु की दुर्गतियों का वर्णन किया गया है; जैसे भोगों में आसिक्तवश अनेक असंयत कृत्य करके, मृत्यु के बाद दु:खपूर्ण अनेक जीवगतियों में भटकते रहना, बोधिप्राप्ति से बहुत दूर....।

दूसरी चूलिका एवं दशवैकालिक सूत्र के अंतिम भाग हेतु दो वैकल्पिक शीर्षक मिलते हैं। एक है विवित्तचरिया(विविक्तचर्या) अर्थात् समाज से दूर एकान्त में रहने वाले मुनि की दिनचर्या। दूसरा शीर्षक है विइत्तचरिया (विचित्रचर्या) (आ. हेमचन्द्र का परिशिष्टपर्वन् ९.९८)। जैसा कि इसके श्लोक २ एवं ३ में बताया गया है अनुस्रोत: संसारो प्रतिस्रोतस्तस्योत्तार: (अणुसोओ संसारो पडिसोओ तस्स उत्तारो)। अर्थात् प्रवाह के साथ बहते जाने से जन्म—मरण का चक्र ही चलना रहता है, उससे पार उतरना हो तो प्रवाह के विरुद्ध दिशा में तैरना चाहिए और यही विचित्र (यहां असाधारण) जीवनक्रम नवदीक्षित को भी अपनाना चाहिए। इस प्रकार सजग होकर, इंद्रियजयी बनकर, संयमित जीवन जीनेवाला ही आत्मा का रक्षण करके सब दु:खों से मुक्ति पाता है (अंत के श्लोक १५ एवं १६)।

-Sanskrit Dictionary Project
Daccan College, PUNE

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org